ISSN 2349-5928
Vol.2 No.2
July 2015-Dec. 2015

HUMANITIES & SOCIAL SCIENCE REVIEW

An International Peer Reviewed Refereed Journal

Editor -in -Chief
Dr. Vinay Kumar Pandey

VYAS PRAKASHAN
VARANASI

Scanned with CamScanner

तेन त्यक्तेन भुञ्जीथाः

डॉ. मेहन्द्र कुमार अंदवे †

"तेन त्येक्तन भुञ्जीथाः"[1] यह ईशावास्योपनिषद् एक वाक्य हैं। इस वाक्यका अर्थ है। 'वैराग्य भावसे भाग करो।' इस संसार में दो तरह की विचारधारा पायी जाती है। पहली विचारधारा अध्यात्मवादी है और दूसरी भौतिकवादी। भौतिकवादी विचारधारा अर्थ प्रकृति पर विजय मानते हैं। पहले बैलगाडी चलती थी, अब मोटर और विमान चलने लगे है; पहले मिट्टी का दिया जलता था अब बिजली जलने लगी हैं, पहले जिन बातों के लिये महीनों लग जाते थे, अब उनके लिये बटन दबाना काफी हैं। नयी मशीनों के द्वारा मनुष्य प्रकृति का स्वामी बनता जा रहा हैं।

अध्यात्मवादी विचार को दृष्टि में उन्नति का अर्थ प्रकृति की नहीं, आत्मा की विजय हैं। मनुष्य काम, क्रोध, लोभ, मोह के सामने क्षण–क्षण अपने को निर्बल पा रहा है। इन मनोवेगो ने उसे पागल बना रखा है। मनुष्य ने मोटर बना ली, हवाई जहाज में उड़ने लगा, बिजली से काम लेने लगा, एक सेकण्ड में जहाँ चाहे वहाँ अपनी बात पहुचाने लगा, मशीन के द्वारा प्रकृतिका स्वामी बना गया; मशीन के द्वारा आग उगलने लगा तो वह विजय किस काम की? पर हो तो वही रहा है।

कहते हैं ये संसार परमात्मा ने बनाया हैं। परमात्मा ने इस विश्व का निर्माण मनुष्य की भलाई और उसके आनन्द के लिये किया हैं। परन्तु हम देखते है कि संसार में सुख नहीं हैं आदि सुख के संसार का निर्माण हुआ था तो इतना क्रन्दन–रुदन क्यों? इतनी पीड़ा क्यों? इतना वैमनस्य क्यों? क्या वही मानवता हैं, जिसका नग्न रूप हम आज इन आँखों से देख रहे हैं? मानव रक्त से वसुन्धरा की प्यास बुझायी जाती हैं, इस भूमि की खेतियाँ मानवी अस्थियाँ के चूर्ण से उपजाऊ बनायी जाती हैं, एक मानवी दल दूसरे मानवी दल से सत्यानास में अपना गौरव समझता है बड़ी–बड़ी अट्टालिकाएँ धाँ–धाँ करके जल रही है और अपने आपको मानव कहने वाला अग्निकी उन प्रचण्ड ज्वालाओं में जीते–जी जलने वाली सहस्रों सतियों के हाहाकार को सुनकर अट्टाहास करता हैं। शिशु अनाथ होते हैं तो क्या? नवविवाहिताएँ विधवा होती हैं तो क्या? रोगी और स्वस्थ नकली खाद्य पदार्थों से मरते हैं तो क्या?

यह सब देखकर हृदय रखने वाले को रोमाञ्च हो जाता है। और वह पुकार उठता है, क्या इस दयनीय अवस्था से भँवरों तथा मँझधारों में भरपूर इस संसार–सागर में जीवन

† एसोसिएट प्रोफेसर, साहित्य विभाग, श्रीसोमनाथ संस्कृत युनिवर्सिटी वेरावल, गुजरात।

बिताने का है कोई उपाय? और तब उसे देवदा अर्थ सुनाई पड़ता हैं "तेन त्यक्तेन भुञ्जीथाः" इस संसार में वैराग्य भाव से भोग करना ही इस संसार में दुःखों के दुःखों से छुटने और पार करने का एकमात्र मार्ग हैं।

वृहदाण्यकोपनिषद में याज्ञवल्क्य तथा मैत्रेयी का संवाद आता है।[2] याज्ञवल्क्य ने जब वानप्रस्थ आश्रम में जाने का विचार किया तो उन्होंने अपनी दोनों पत्नियों–मैत्रेयी और कात्यायनी को बुलाकर कहा– मैं वानप्रस्थी बनाना चाहता हूँ, इसलिए मैत्रेयी और कात्यायनी आप दोनो को धन बाँट देना चाहता हूँ। कात्यायनी साधारणतया धन देने को तैयार हो गयीर, परन्तु मैत्रेयी ने कहा 'यन्नु म इयं भगोः सर्वा पृथिवी वित्तेन पूर्णा स्यात् स्यां न्वहतु तेनामृता'[3] भगवन्। यदि धन–धान्यपूर्ण समूची धरित्री ही मुझे मिल जाय तो क्या मैं अमर (दुःख–सुख और जन्म–मरण के बन्धनों से मुक्त) हो जाऊँगी क्या मेरी आत्मा को शान्ति मिल जायेगी? याज्ञवल्क्य ने कहा नेति–नेति–'नहीं–नहीं' अमरता तो नहीं मिल सकती। हाँ धनियों की तरह तुम्हारा जीवन अवश्य हो जायेगा। आज्ञवल्क्य ने आगे कहा– यथैवोपकरण वतां जीवितं तथैव ते जीवितं स्यादमृत त्वस्य तु नाशास्ति वित्तेन। सांसारिक प्राकृतिक साधनों के मिलने से तुजे आत्मिक शान्ति प्राप्त नहीं हो सकेगीं हाँ साधन संपन्न व्यक्तियों के जीवन के समान तेरा जीवन सुखी जरूर हो जायेगा, मैयेत्री ने कहा– यथाहं नामृता स्वां किमहं तेन कुर्याम् जिस वस्तु से मिलने से मुझे चिर स्थायी शान्ति प्राप्त न हो सके तो इसके पीछे मैं दौड़कर क्या करूगीं। मुझे आत्म तत्व का उपदेश दीजिये।

आज संसार इन आत्म तत्व से दूर–दूर और बहुत दूर होता चला जा रहा हैं। परिणाम यह हो रहा हैं कि वैज्ञानिक दृष्टि से आज यद्यपि हम एक दूसरे से अत्यन्त निकट आ गये हैं, परंतु आध्यात्मिक दृष्टि से हम एक दूसरे से बहुत दूर हो गये हैं। विश्वशान्ति की स्थापना के हेतु संयुक्त राष्ट्रसंध में एकत्र, विश्व एकता और विश्वशांति का नारा लगाने वाला प्रत्येक राष्ट्र अपनी जेब में छुरा लेकर बैठा हैं और अपने पड़ोसी और विरोधी के पेट में भोकने को तैयार हैं। मनुष्य का मनुष्य से विश्वास उठ गया है आज चन्द्रमा में पहुचने के सपनों को साकार करने वाला मनुष्य चन्द्रमा पर अधिकार करने का विचार कर रहे हैं और इन सबका फल यह हैं कि संसार में दुःख, कष्ट, असंतोष, निराशा, बढ़ रहा हैं। इसका दोष विज्ञान को नहीं दिया जा सकता। इसके वास्तविक दोषी तो वह भावना है जो दूसरों की वस्तु और अधिकार को अपनी वस्तु और अपना अधिकार बनाना चाहती हैं। आज के विश्व की दृष्टि से हम इस विषय पर विचार करें तो हम इसे इस प्रकार समझ सकते हैं कि भौतिकवादी दृष्टिकोण से परिचायक साम्राज्यवाद और साम्यवाद दोनों ही हैं। अर्थात् लन्दन और न्यूयार्क की साम्राज्यवादी विचारधारा का यही तो उद्देश्य हैं कि धन और शस्त्र शक्ति के बल से संसार में जो वस्तु मेरी नहीं हैं, वह कि इस तरह मेरी बनायी जाय मास्को की साम्यवादी विचारधारा सुनने में इससे भिन्न हो सकती हैं, परंतु उसका भी लक्ष्य वही हैं,

Scanned with CamScanner

जो साम्राज्यवादी विचारधारा का है वैदिक विचारधारा, जिसे हम ऋषि मुनियों की विचारधारा कह सकते है, वह इससे बिल्कुल भिन्न हैं। यह विचारधारा जगह–जगह देखती है– कौन वस्तु दूसरों की है मेरी नही! जो मेरी नहीं, उसे किस तरह दूसरो को दिया जाय? इसीलिये सनातन धर्म ने–वैदिक धर्म ने शान्ति और अमरता के लिये 'अपरिग्रह' का उपदेश दिया है। यह 'अपरिग्रह' क्या हैं? 'परि' का अर्थ हैं चारों तरफ से, और 'ग्रह का अर्थ है ग्रहण करना, पकडना।' परिग्रह 'का अर्थ हुआ किसी वस्तु को कसकर चारों तरफ से पकड लेना। और अपरिग्रह 'का अर्थ हुआ उसे छोड़ देना। गीता में भी अनेक बार 'त्याग' शब्द का उल्लेख हुआ है। गीता का पहला त्याग 'हृदय दोर्बल्य' हैं।[4] तुच्छ स्नेह मोह को जन्म देता है। और मोह से आसक्ति होती हैं इसलिये आसक्ति का त्याग ही सच्चा त्योग है।[5] जो समत्वज्ञानवान योगी पुरुष हैं वो कर्तव्य कर्म करके भी पाप और पुण्य को त्याग देता हैं अर्थात् वो पाप–पुण्य के प्रभाव से मुक्त रहता हैं। आसक्त त्यागी ज्ञानी पुरुष कर्मफल त्याग करके, जन्ममरणादि से मुक्त हो के अनामय पद को प्राप्त करते हैं।[6] आसक्ति और फल की ईच्छादि मूल कामना हैं। गीता उसका त्याग करने के लिये कहते हैं। यदि साधक स्वमुख की कामना का त्योग करता हैं तब वो स्थित प्रज्ञ बनता हैं। जो सर्वत्र आसक्ति रहित हो उनको सही या गलत बात में हर्ष या शोक होता नहीं हैं। स्थूल त्याग से वासना मिटती नही हैं विषयों प्रत्येक मानसिक रस तो होता हि हैं सच्चा त्याग तो परमात्मा दर्शन से ही होता हैं। अंदर से युद्ध और बाहर से बुद्ध का क्या मतलब? गीता स्थूल त्याग से तो अनासक्ति का भोग के अच्छा मानती हैं। विषय हि अशान्ति देते हैं और विषय हि प्रसत्रता देते हैं। विषय सुख का आत्यंतिक त्याग नहीं किन्तु उनकी आसक्ति का त्याग महत्व का है गीता सहज जीवन की बाधक नहीं किन्तु पोषक है। कर्मफल की आसक्ति से मुक्त तथा कर्मफल की आसक्तिसे मुक्ती ही 'नित्यतृप्त' हैं। हम सर्व सकाम कर्मों को छोड़ के और सर्वकामनाओं से रहित बन के कर्म का जो आचरण होता हैं वो 'सन्यास' है, त्याग में भी छोडने कि जो बात दी हैं वो कर्मो को छोड़ने की नहीं परन्तु कर्मफल छोड़ने की बात हैं। इस तरह काम्यकर्मो का त्याग और सर्व कर्मो के परिणाम का त्याग भिन्न हैं। शरीरी और शरीर (देही और देह) का पार्थक्य स्पष्ट करने के पश्चात् श्रीकृष्ण ने अर्जुन के 'कर्तृत्व–फलभिमानिता' को दूर करने के उद्देश्य से जा बात उन्हें समझायी, उसे सुधीजन, गीता का निष्काम कर्मयोग कहते हैं। श्रीकृष्ण कहते हैं कि कर्म करने में ही तेरा अधिकार हैं, नहीं फल में।[7] विषय मे उदाहरण के रूप में प्रस्तुत करते हुए भगवान श्रीकृष्ण कहते हैं कि श्रेष्ठ जन जैसा आचरण करते हैं इस तरह लोग भी ऐसा आचरण करते हैं, वह जो करते हैं वो ही प्रमाण हो जाता हैं और लोग उसी का अनुसरण करता हैं, अब मुझे ही देखो मेरे लिये तीनों लोकों में न तो करने को कुछ ना पाने के लिये कुछ बचा हैं। फिर भी मैं कर्म में लगा रहता हूँ, चूँकिं मनुष्य मेरा अनुसरण करते हैं, अतः यदि मैं सावधान होकर कर्म न करूं तो सारा लोक ही अकर्मण हो जाय और इस प्रकार कर्म–परम्परा के विच्छन्न

हो जाने से प्रजा नष्ट हो जाय और लोक का विनाश हो जाय।[9] अतः अनासक्त होकर निरन्तर कर्मणीय कर्म को करते रहना चाहिए। इस प्रकार कर्मशील पुरुष परमार्थ की प्राप्ति कर लेता हैं।[10] जो मनुष्य मेरे इस मत का अनुसरण करता हुआ नित्य कर्मानुष्ठान करता हैं, वह श्रद्धावान असूर्या रहित होकर मुक्त हो जाता हैं। अपने लिये विहित कर्म को धर्म मानकर मनो योग पूर्वक करना चाहिये। दूसरे के लिये विहित कर्म (धर्म) का अनुष्ठान करने की अपेक्षा अपना अवर कर्म ही अच्छा हैं अपने धर्म का पालन करते हुए मृत्यु को प्राप्त करने से मुक्ती प्राप्त हो जाती हैं, किन्तु अन्य के धर्म का पालन करने से यह संसार में भय बना रहता हैं।[11] अपने शरीर में स्थित काम–क्रोधादि नित्य शत्रु हैं और ये पाप मार्ग में प्रवृत्त करके सिद्धि के बाधक हैं। अत एव बुद्धीन्द्रियों का निग्रह करके कामों को जीत लेना चाहिए। निष्कर्षतः निष्काम भावना से प्राणि मात्र के लिए तत्परता पूर्वक अपने कर्तव्य का पालन करना कल्याणकारी होता है।

संन्यास अपूर्णत्याग हैं, त्याग पूर्ण संन्यास हैं। संन्यास सिर्फ काम्य–स्वार्थी कर्मो के त्याग में ही हैं, कर्ता के फल की ईच्छा वाले कर्म का त्याग हि संन्यास है। और नित्य–नैमित्तिक–काम्य जैसे और कर्म और उनके फल ही त्याग हैं। इसी तरह संन्यास प्रारंभिक भूमिका हैं और त्याग अंतिम भूमिका हैं। त्यागी संन्यास की अंतिम सिद्धि हैं। गीताकार निर्दिष्ट कर्तव्यों को न छोड़ने की सीख देता हैं यदि कोई मनुष्य मोहवश स्वनियत कर्मों को छोड़ देता हैं ऐसे त्याग को तामसी कहा जाता है।[12] तथा मनुष्य नियत कर्मों को कष्टदायक समझकर शारीरिक क्लेश के भय से त्याग देने वाला त्याग रजोगुणी त्याग हैं। इससे तो त्याग का उच्च फल प्राप्त नहीं होता है।[13] और मनुष्य नियत कर्म को कर्तव्य समझकर करते हैं और समस्त भौतिक संग तथा फल की आसक्ति का सर्वथा त्याग करता हैं ऐसा त्याग सात्विक त्याग हैं।[14] कई विद्वानों के अनुसार यज्ञ, दान तथा तप के कार्यों को कदापि त्यजना नहीं चाहिए।[15] त्योग करके भुक्त करने की ईशावास्योपनिषद की बात को गीता ने अच्छी तरह से पुष्टि दी हैं।

सन्दर्भ सूची :

1. ईशावास्योपनिषद् – 1.
2. बृहदारण्यकोपनिषद् – 2–4/5.
3. बृहदारण्यकोपनिषद – 2/4/2.
4. क्लैब्यं मा स्म गमः नैतत्त्वय्युपपद्यते।
   क्षुद्र हृदयदौर्बल्यं त्यक्त्वोतिष्ठ परन्तप।। श्रीमद्भगवद् गीता – 2/3.
5. योगस्थः कुरु कर्माणि संङ्गं त्यक्त्वा धंनञ्जय।
   सिद्धयसिद्धयोः समोभूत्वा समत्वं योगं उच्यते।। श्री मद्भगवद् गीता – 2/48.

Scanned with CamScanner

6. बुद्धियुक्तो.....योगः कर्मसु कौशलम्।

कर्मजं बुद्धियुक्ता... गच्छन्त्यनामयम्।। श्री मद्भवगद् गीता – 2/50,51.

7. कर्मण्ये वाधिकारस्य माँ फलेषु कदाचन।

माँ कर्मफल हेतुर्भूर्मा ते संगोऽ स्त्वकर्मणि।। गीता – 2/47.

8. नहीं कश्चित् क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्म कृत्।। गीता – 3/5.

9. यधदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः ।.....

सङ्करस्य च कर्ता स्यामुपहन्यामिमाः प्रजाः।। गीता – 3–21/24.

10. तस्मादसक्तः सततं कार्य कर्म समाचर।

असक्तो ह्याचरन्कर्म परमाप्नोति पुरुषः ।। गीता– 3–19.

11. श्रेयान स्वधर्मो विगुणः परधार्मास्वनुतिष्ठतात।

स्वधर्मे निधनंश्रेयः परधर्मो भयावहः।। गीता – 3–3516.

12. नियतस्य तु संन्यासः कर्मणो नोपपद्धते ।

मोहातस्य परित्यागस्तामसःपरिकीर्तितः।। श्री मद्भगवद् गीता – 18–8.

13. दुःखमित्येव यत्कर्म कायक्लेशभ्यात्त्यजेत्।

स कृत्वा राजसं त्योगं नैव त्यागफलं लभेत्।। श्री मद्भगवद् गीता – 18–8.

14. कार्यमित्येव यत्कर्म नियतं क्रियतेऽर्जुन ।

सङ्गं त्यक्त्वा फलं चैव स त्यागः सात्विको मतः।। श्री मद्भगवद् गीता – 18–9.

15. त्याज्यं दोषवदित्येके कर्म प्राहुर्मनीषिण।

यज्ञदानतप६ कर्म न त्याज्यमिति चापरे ।। श्री मद्भगवद् गीता – 18–3.

◈◈◈

Scanned with CamScanner

ISSN 2249 - 2313

षाण्मासिकी संस्कृतशोधपत्रिका
Half Yearly Sanskrit Research Journal
Vol. IX Oct,2016 - Mar,2017 No.2
वर्षम् – ९, अक्टूबर २०१६ – मार्च २०१७, अङ्कः – द्वितीयः

प्राचीसुधा

PRACI SUDHA

"प्राचीसुधा" सुललिता बहुशास्त्रतत्त्व-
पूर्णा जगज्जनहिताऽखिललोकमान्या ।
आध्यात्मिकीं सुखकथां परिवेषयन्ती
संराजतां निरभिमानबुधेषु नित्यम् ।।

सम्पादकः सञ्चालकश्च
डॉ.विश्वनाथस्वाईं

पुरुषोत्तमप्राच्यविद्याशोधप्रतिष्ठानम्, पुरी, ओड़िशा
PURUSOTTAM RESEARCH ACADEMY OF INDOLOGY
PURI, ODISHA

Scanned with CamScanner

आचार्यभरतानुसारं "नाट्याभिनयः"

डॉ.महेन्द्रकुमार अ.दवे

नाट्यस्य नटवृत्तस्य शास्त्रं शासनोपायं ग्रन्थं प्रवक्ष्यामिति । "नाट्यवेदः नाट्यशास्त्रम्" इति पर्यायौ । तद् ग्रन्थस्येदानीं करणम् । न तु प्रवचनम् । तद्धि व्याख्यानरूपं करणादभिन्नं कठेन प्रोक्तमिति यथा । ग्रन्थस्य च नाट्यवेदत्वे उत्पत्त्यादिपञ्चकस्य तद्गतस्यान्यग्रन्थसाधारण्यात् प्रश्नासङ्गतिः । उत्तरग्रन्थस्यानुपपत्तिः – "दृश्यं श्रव्यं च यद् भवेत् ।" (नाट्यशास्त्रम् – १/११), "जग्राह पाठ्यमृग्वेदात् ।" (नाट्यशास्त्रम् – १/१७) इत्यादेर्ग्रन्थं प्रत्यसङ्गतत्वात् । तस्मात् नाट्यं च तच्छास्त्रञ्च । सर्वेषु सामुहिकसमारम्भेषु यज्ञ-संस्कार-देवार्जन-युद्धादिषु यज्ञादिमाङ्गलिककार्येषुत्सवेषु च लोकानाम् विनोदो गीतवाद्याभिनयादिभिः सम्पादितः । अपरं विश्रामकालं सानन्दं व्यत्येतुं मनोविनोदाः श्रेष्ठसाधनानि समीहिताः । कतिपय मनोविनोदानामुपयोगिस्वरूपाणि प्रश्यस्यानि सन्ति[१] ।

सकलहितकरणप्रवृत्त उत्साहसम्पदोपेतस्तदभिवृद्धये तत्प्रत्यूहापसिसारयिषया स्वविज्ञानक्रमोपारूढ गुरुरूपब्रह्मसर्वाधिपति परमेश्वरविषयां स्मृत्यौत्सुक्यधृतिमत्यादि लक्षणां व्यभिचारसरणिं बाह्यकरणीयविषयं च जडतावहित्यप्रभृतिभावगणं पुरस्सरीकृत्य धर्मवीरानुप्रविष्ट स्तदुचिताङ्गिक वाचिकानुभाव प्रकटनपूर्वं स्वप्रवृत्तिप्रयोजनमेव निरूपयति । प्रयोजनस्यैव प्रवर्तकत्वात् यदाहुः – "यमर्थमधिकृत्य प्रवर्तते तत्प्रयोजनम्"[२] । तथाहि वनविहार-जलविहार-मल्लयुद्ध-मृगयादिकं स्वास्थ्यसम्वर्धनाय, नृत्य-संगीत-वाद्याभिनय-कथादिकं कलाविलासाय, समाज-गोष्ठी-वसन्तोत्सव-कौमुदीमहोत्सवादिकं नागरिकाताया विकासाय च बभूवुः । नाट्याभिनये बहुविधमनोविनोदानामन्तर्भावो वर्तते । संस्कृत्या सह नाट्यस्य समारम्भो बीजरूपेण कल्पितुं शक्यते । सर्वप्रथमं वैदिककाले नाट्याभिनयस्य कतिप यज्ञेषु विधानमासीत् । तथाहि राजसूययज्ञे गविष्टिमभिनयन् यजमानो राजा सम्बन्धिनमपि राजानं प्रत्याक्रमणं कृतवान्[३] । विष्णोर्वामनरूपेणासुराणां छलनं विदितमेव । वैदिकशैलूषा नाटकपात्राण्येव प्रतिभान्ति[४] । पाणिनिना नटसूत्राणां कतिपयरूपकाणां चोल्लेखः कृतः । परवर्त्तियुगेऽपि सदैव नाट्यप्रवृत्तिः समवर्ततः । भरतमुनिना चतुश्रु वेदेषु नाट्ये आवश्यकानि तत्त्वानि नीत्वा नाट्यवेदस्य रचना कृता । यथा –

जग्राहपाठ्यं ऋग्वेदात्, सामभ्यो गीतमेव च ।
यजुर्वेदादभिनयान् रसानथर्वणादपि ।।[५]

ऋग्वेदात् पाठ्यं नीत्वा सामभ्यो गीतं तत्र "गीतं प्राणाः प्रयोगस्य" इति वक्ष्यमाणत्वात् । एवकारेण गीतमात्रं ततो गृहीतं "गीतिषु समाख्या[६], इति न्यायात् ।

Scanned with CamScanner

तदनन्तरम् अभिनयार्थे पुत्राणां, वृत्यानां तथा अप्सरानां सर्जनम् अभिनेयार्थं कृतम्। पश्चात् महेन्द्रध्वजमहोत्सवे प्रयोगं कृतम्॥ तदा दैत्याः विघ्नान् करोति स्म। तदा अभिनयार्थं विशाला नाट्यमण्डपा रचिताः। तद्यथा ज्येष्ठमण्डपोऽष्टत्तरशतहस्तायामो बभूव। नाट्यमण्डपस्य भित्तिषु चित्रकर्मप्रसाधनं कृतं,मणयोऽपि खतिताः, मन्त्रजाल-गवाक्षादीनां व्यवस्था कृता च[७]। पूर्वरङ्गविधाने-नाभिनयस्य माङ्गलिकसमारम्भः कृतः। प्रथमं तावद्वाद्ययोजनं गायनं च, पश्चात् नान्दीपाठाः नृत्यं च समारब्धानि। अन्ततः सूत्रधारपारिपार्श्विकादीनां संलापः नाट्यविषयस्य प्रकाशनं च कृते[८]। नाट्याभिनया चतुर्विधाः – आङ्गिकः, वाचिकः, आहार्यः, सात्त्विकश्च। तत्र आङ्गिक अभिनयस्य भेदाः त्रयः वर्तन्ते – शारीरः, मुखजः चेष्टाकृतश्च। तत्र शरीराभिनयेऽङ्गनामनेकानेकगतिस्थिति-विधानानामभिव्यक्तयो कृताः। तद्यथा नेत्रस्य षडत्रिंशत् विधानानि परिगणितानि सन्ति। तद् अनुसृत्य दर्शनस्याष्टौ भदो उपकल्पिताः सन्ति। नेत्रताराभिरष्टविधानि पुटकर्माणि, भ्रूमिः सप्तविधानि भ्रूकर्माणि च व्याख्यतानि। अनया दिशा नाट्यविनोदस्य सूक्ष्मकला-तत्त्वाभिनिवेशः प्रदर्श्यते[९]। तथाहि अभिनयदृष्ट्या शिरोहस्तोरःपार्श्वकटीपादाः प्रधानाङ्गानि। नेत्रभ्रूनासाधरकपोलचिबुकान्युपाङ्गानि। तेषां सर्वेषामभिनयकर्माणि सूक्ष्मरूपेण व्याख्यातानि।

वागभिनयो नाट्यपुरुषस्य शरीरं वर्तते। रङ्गे वचनविन्यासो व्याकरणछन्दः-शास्त्रानुसारं शुद्धो भवत्॥ काव्यबन्धस्य समीचीनस्वरूपं भरतेन निर्दिष्टम् –

मृदुललितपदाढ्यं गूढशाब्दार्थहीनम्।
जनपदं सुखबोध्यं युक्तिनमन्नृत्ययोज्यम्॥
बहुकृतरसमार्गं सन्धिसन्धानयुक्तम्।
भवति जगति योग्यं नाटकं प्रेक्षकाणाम्॥[१०]

नाट्ये भाषा एवं रसविषयेऽपि निर्धाणा प्रवर्तेते। नाट्ये नाट्याभिनयस्य प्राधान्यमासीत्। आहार्येणाभिनेतृणां वेश-भूषा, मानवेतरप्राणीनां प्रतिभाः, नदीपर्वतवनादीनां चित्राणि च समाविष्टानि सन्ति। अभिनेतृणां वेशैः रङ्गैः श्मश्रुरचनादिभिश्च तेषामभिनीतपात्राणां देशजातिव्यवसायादीनां परिचयः प्राप्यते स्म। सत्त्वाभिनये रसभावादीनां निष्पत्तये मनसः समाधिना रोमाञ्चाश्रूस्वरभेद-स्तम्भ-स्वेद-वेपथु-वैवर्ण्यप्रलयभावादयः प्रदर्शिताः। यथा –

आङ्गाद्यभिनयस्यैव यो विशेषःक्वचित्क्वचित्।
अनुक्त उच्यते चित्रः स चित्राभिनयः स्मृतः॥[११]

अभिनेतृणां वरणाय नियमासीत्। यथा –

सुशीला ज्ञानवन्तश्च तथा च प्रियदर्शनाः।
कुमारराजभूमिषु प्रयोज्या भरतोत्तमाः॥[१२]

कतिपयपुरुषाः स्त्रीणामभिनयः कुर्वन्ति स्म। किन्तु नाट्यसर्जनसमये ब्रह्मणा मञ्जुकेशी, सुकेशी, आदयः चतुर्विंशतिः अप्सराणामपि सर्जनं कृतवान्। पूर्वकाले अहर्निशं नाट्यं प्रवर्तनीयमासीत्। लोकसंग्रहार्थं अभिनेयार्थानिर्वारिता एव। तद्यथा नाट्यशास्त्रे कथितमस्ति यत् –

न कार्यं शयनं रङ्गे नाट्यधर्मं विजानता।
केनचित्वचनार्येन छेदमत्र प्रयोजयेत्॥
यदा स्वपेदर्थवशादेकाकी सहितोऽपि वा।
चुम्बनालिङ्गनादीनि रङ्गमध्ये न कारयेत्॥
भोजनं सलिलक्रीडां तथा लज्जाकरं तु यत्।
एवंविधं भवेद्यद्यत्तत्तरङ्गे न कारयेत्॥
पितृपुत्रस्नूनाश्चश्रूदृश्यं यस्मात्तु नाटकम्।
तस्मादेतानि सर्वाणि वर्जनीयानि यत्नतः॥[१३]

नाट्यं सुपुण्यं, पवित्रं शुभंपापविनाशनश्च भवति एव प्राचीनकालतः वर्तमानकालपर्यन्तं नाट्ये सविशेषं स्वाभाविकतामादयानं प्रवर्तते। ईदृशस्य स्वाभाविक नाट्यस्याभिनिवेशः कालिदासस्य नाटकेऽपि प्रतिभाति। अभिज्ञान-शाकुन्तले द्वितीयाङ्के मृगयादृश्ये स्वाभाविकः वर्णनस्य दर्शनं भवति एव। यथा –

ग्रीवाभङ्गाभिरामं मुहुरनुपतति स्यन्दते बद्धदृष्टिः
पश्चार्धेन प्रविष्टः शरपतनभयाद् भूयसा पूर्वकायम्।
दर्भैरर्धवलीढैः श्रमवितृत्तमुखभ्रंशिभिः कीर्णवर्त्मा
पश्योदग्रप्लुतत्वाद्वियति बहुतरं स्तोकमुर्व्यां प्रयाति॥[१४]

नाट्यवदभिनयप्रधानं नृत्यं भवति। किन्तु नाट्ये वाक्याभिनयो रसाश्रयो भवति, नृत्ये च पदार्थाभिनयो भावाश्रयो भवति[१५]। नाट्ये सात्त्विकाभिनयस्य एवं नृत्ये आङ्गिकाभिनयस्य प्राधान्यं भवति। मालविकाग्निमित्रे नृत्याङ्गना-मालविका प्रथमम् उपगानं कृत्वा अनन्तरं चतुष्पदवस्तु गायति। यथा –

दुल्लहो पिओ मे तस्मिं भव हिअग्र णिरासं
अहो अपङ्गवो मे परिस्फरइ किं वामओ।
एसो सो चिरदिट्ठो कहं उण उवणैबव्वो
णाह मं पराहीणं तुई परिगणअ अतिण्हं॥[१६]

प्राचीनकाले नृत्य-नृत्तश्च द्वौ भेदौ स्तः। शिवस्य सुप्रसिद्धः ताण्डवः एवं जगदम्बायाः लास्यः। यथा – रेचनकरङ्गहारैश्च नृत्यन्तं वीक्ष्य शाङ्करम्।
सुकुमार प्रयोगेण नृत्यन्तीं चैव पार्वतीम्॥[१७]

Scanned with CamScanner

नृत्तस्य प्राचीनतमस्पष्टस्वरूपं सिन्धुसभ्यताया नर्तकीनां मूर्त्तिभिर्लभ्यते । नर्त्तनकाले तासां नर्त्तकीनां शरीरं विवसनमभवत् । नर्त्तकानां मूर्त्तयोऽपि प्राप्यन्ते । नर्त्तनद्वारा हावभावादिनामभिव्यक्तिरक्रियत । तालल्याश्रितं नृत्तमपि प्रचलितमासीत् । नृत्येन सह वाद्यस्य सङ्गतिः कृता । तदा समूहनृत्यस्य प्रचलनमासीत् । महाभरतीयुगे राजकुलेषु नृत्यस्य प्रचलनमासीत् । स्वयमर्जुनो नृत्यशिक्षकं भूत्वा राजकुमारीणां शिक्षा अददत् । रामायणानुसारं अयोध्याकिष्किन्धालङ्कादिषु नगरीषु नागरिकाणां राज्ञां च मनोरञ्जनाय प्रतिदिनं नृत्यायोजनं कृतम् । न केवलं मनुष्याणामपितु हस्तिनामपि नृत्यशिक्षणं समभवत् । ग्रीक्लेखक एरियनो लिखति – I have myself actually seen an elephant playing on cymbals. While other elephants were dancing to his strains : a cymbal had been attacjed to each foreleg of the performer and a third to what is called his trunk, and while he beat in proper time those on his two legs. The dancing elephants all the while kept dancing in a circle, and as they raised and curved their forelegs in turn they too moved in proper time, following as musicial led. [१८] । परवर्तियुगेऽपि राजां सामन्तानां च मोनरञ्जनाय प्रायशोऽसंख्या नर्तक्यो नियुक्ताः । यथा – "काश्मीराणां राजा हर्षः स्वयमेवनर्तकी शिक्षयत्[१९]। नृत्यसदृश्येव सङ्गीतस्य प्राकृतिकस्वरूपम् अनादिकालादेव प्रकीर्त्तितम्[२०]। वैदिकसंहितासु प्रायः देवाभिप्रायाणं स्तुतीनां सङ्कलनं वर्तते । तेषु क्वचित् कृषकाणां गीतानि संगृहीतानि यथा –

"शुनं नः फाला विकृष्यन्तु भूमिं शुनं कीनाशा अभियन्तु बाहैः ।
शुनं पर्जन्यो मधुना पयोभिः शुनासीरा शुनमस्मासु धत्तम् ।।[२१]

वीणा वैदिकयुगस्य श्रेष्ठवाद्यमासीत् । वीणायां शततन्तूनां प्रवर्तनमक्रियत[२२]। महाभारतयुगे भेरी-मृदङ्ग-पणवानकझर्झरक्रकच-दुन्दुभि-पुष्कर-पटहादयो युद्धोपयोगिनो ढौलस्य भेसा बभूवुः[२३]। वीणायाः माहात्म्यं भासेन वर्णितम् । तद्यथा –

वीणा नाम समद्रोत्थितं रत्नम् उत्कण्ठितस्य
हृदयानुगता-सङ्कीर्णदोषरहिता विषयेषु गोष्ठी ।
क्रीडारसेषु मदनव्यसनेषु कान्ता
स्त्रीणां तु कान्तरतिविघ्नकरी सपत्नी ।।[२४]

इत्थम् अभिनयस्य अनेकानि तत्त्वानि संयोजनं कृत्वा नाट्योपयोगिता प्रतिपादनकरणार्थे प्रयत्नः कृताऽस्ति । "सकलहितकरणप्रवृत्त उत्साहसम्पदोपेत-स्तदभिवृद्धये तत्प्रत्यूहापसिसारयिषया स्वविज्ञानक्रमोपारूढगुरुरूप ब्रह्मसर्वाधि-पतिपरमेश्वरविषयां स्मृत्यौत्सुक्यधृतिमत्यादि लक्षणां व्यभिचारसरणिं बाह्यकरणीय-विषयं च

जडतावहित्थप्रभृतिभावगणं पुरस्सरीकृत्य धर्मवीरानुप्रविष्टस्तदनुनिताङ्गिगवाचिकानुभावप्रकटनपूर्वं स्वप्रवृत्तिप्रयोजनमेव निरूपियति । प्रयोजनस्यैव प्रवर्तकत्वात् । अत्र अभिनयस्य विविधान् भेदान् चर्चीयित्वा स्य स्वरूपविषये यत् किञ्चित् कथयितुम् प्रयत्नः कृताऽस्ति ।

सन्दर्भसूची –

१. जैनबौद्धधर्मानुयायिनो नाट्यधर्मप्रचारसाधनामिति स्वीकृतवन्तः । (कैथ संस्कृतङ्रामा, पृ.४४)
२. न्यायसूत्रे – १/१/२४ ।
३. शतपथब्राह्मणे – ५/४/३/१ तथा च तैत्तिरीयसंहितायां – १/८/१५३ ।
४. वाजसनेयीसंहितायाम् – ३०/६, तैत्तिरीयब्राह्मणे – ३/४/२/१ ।
५. नाट्यशास्त्रम् – १/१७ । ६. जैमिनिसूत्रे – २/१/३६ ।
७. नाट्यशास्त्रे द्वितीयाध्यायतः । ८. तत्रैव पञ्चमाध्याये – ३४/१९७/२०६ ।
९. तत्रैव अष्टमाध्यायतः । १०. नाट्यशास्त्रे – १७/१२४ ।
११. तत्रैव – २५/१ । १२. तत्रैव – ३५/११ ।
१३. तत्रैव – २८/२८४, २८५, २८६, २८८ ।
१४. अभिज्ञानशाकुन्तले – २/४ ।
१५. नृत्यमङ्गसत्त्वचनाश्रयमपि भवति । रघुवंशे – १९/३६ ।
१६. मालविकाग्निमित्रम् – २/४ । १७. नाट्यशास्त्रम् – ४/२५३ ।
१८. एम्. क्रिण्डले आन्सिएण्ड् इण्डिया – पृ.२२१ ।
१९. राजतरङ्गिणी – ७/११/४० ।
२०. भागवते – १०/१८
२१. ऋग्वेदे – ४/५७/८ ।
२२. तत्रैव – १०/३२/४ ।
२३. श्रीमद्भगवद्गीतायाम् – १/१३, एवं च महाभारते भीष्मपर्वणि – ९५/४१ ।
२४. चारुदत्तम् – ३/१ ।

—०—

एसोसियेट्प्रोफेसरः, साहित्यविभागः
श्रीसोमनाथसंस्कृतयुनिवर्सिटी, वेरावळम्,
जि.गिर-सोमनाथः (गुजरातम्)

Scanned with CamScanner